श्री शत्रुंजय मुक्ति सम्यग्ज्ञान अभ्यासक्रम

श्री शत्रुंजय-मुक्ति
सा विद्या या विमुक्तये
सम्यग्ज्ञान अभ्यासक्रम

तृतीय वर्ष

शाह गोविन्दजी वीरम फेक्टरी कम्पाउन्ड़, मोंढा रोड, औरंगाबाद

(सम्यग्ज्ञान विशारद) अभ्यास ८

❀ शुभाशीर्वाद ❀

तपस्वीरत्न, अचलगच्छाधिपति प.पू.आ.भ. श्री गुणोदयसागरसूरिश्वरजी म.सा.

❀ दिव्य कृपा ❀

आगम आराधिका बा.ब्र.प.पू. मुक्तिश्रीजी म.सा.
शासन प्रभाविका प.पू. जयलक्ष्मीश्रीजी म.सा.
मार्गदर्शिका- प्रेरक - सा. डॉ. जयदर्शिताश्रीजी म.सा. M.Sc., Ph.D.
हिंदी अनुवाद - सौ. काश्मीरा लोडाया, सौ. भारतीबेन दंड, सौ. भारती लोडाया

सौजन्य : एक श्रुतभक्त परिवार

स्तोत्र - अर्थ - रहस्य

शांति-स्तव (लघुशांति)

सूत्र परिचय :-

वीर-निर्वाण की सातमी सदी के अंत भाग में शांकभरी नगरी में किसी भी कारण से कुपित हुई शाकिनी ने महामारी का उपद्रव फैलाया । यह उपद्रव इतना भारी था कि उसमें औषधी कि वैद्य कुछ भी काम नहीं कर पा रहे थे । इससे मनुष्य टोपटप मरने लगे और संपूर्ण नगरी स्मशान जैसी भयंकर लगने लगी ।

इस परिस्थिति में कितने सुरक्षित रह गये श्रावक जिन मंदिर मे एकत्र होकर विचार करने लगे तभी अंतिरिक्ष में से आवाज आया कि ''तुम चिंता किस लिये करते हो ? नाडूल नगरी में श्री मानदेवसूरि

बिराजमान है, उनके चरण का प्रक्षालन जल का तुम्हारे मकानों में छिंटकाव करो इससे सभी उपद्रव शांत हो जायेंगे ।''

इस वचन से आश्वस्त हुये संघ ने वीरदत्त नामक श्रावक को विज्ञाप्ति पत्र के साथ नाडूल नगर (नाडोल - मारवाड) श्री मानदेवसूरि के पास भेजा ।

सूरिजी तपस्वी, ब्रह्मचारी ओर मंत्रसिद्ध महापुरुष थे तथा लोकोपकार करने की परम निष्ठावाले थे । इससे उन्होंने शांति-स्तव नामका एक मंत्र युक्त चमत्कारिक स्तोत्र बनाकर दिया तथा अपने पग प्रक्षालन का जल भी दिया । यह शांति-स्तव लेकर वीरदत्त शांकभरी नगरी पंहूचा वहाँ पग प्रक्षालन का (शांति स्तव से मंत्रित) जल अन्य जल के साथ मिला कर छिडकने से तथा शांति-स्तव का पाठ करने से महामारी का उपद्रव शांत हो गया । तभी से यह स्तव सभी प्रकार के उपद्रवों के निवारणार्थ बोला जाता है । प्रतिक्रमण में यह कालांतरे दाखिल किया गया है ।

शांति-स्तव (लघुशांति)

मूल -

(मंगलादि)

(गाहा)

शान्तिं शान्ति - निशान्तं, शान्तं शान्ताशिवं नमस्कृत्य ।
स्तोतुः शान्ति-निमित्तं, मन्त्रपदैः शान्तये स्तौमि ।।१।।

-: शब्दार्थ :-

शान्तिम् - श्री शांतिनाथ को
शान्ति-निशान्तं - शांति के गृहसमान
शान्तं - शांतरस से युक्त, प्रशमरस में निमग्न
शान्ताशिवं - जिन्होंनें अशिव को शांत किया है
नमस्कृत्य - नमस्कार करके
स्तोतुः - स्तुति करने में
शांति - निमित्तं - शांति के निमित्त को, शांति करने में भूत ऐसे साधन (तंत्र) को
मन्त्रपदैः - मंत्रगर्भित पदों द्वारा
स्तौमि - स्तवना करता हूं, वर्णन करता हूं

अर्थ-संकलना :- शाति के गृहसमान, प्रशमरस-निमग्न और अशिव का नाश करने वाले शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करके, स्तुति करने में निमित्तभूत ऐसे साधन (तंत्र) का वर्णन करता हूं.....१

मूल -

(श्रीशांति - जिन - नाम - मंत्र - स्तुति)

ओमिति निश्चितवयसे, नमो नमो भगवतेऽर्हते पूजाम् ।
शान्तिजिनायजयवते, यशस्विने स्वामिने दमिनाम् ।।२।।

-: शब्दार्थ :-

ओम् - ॐकार, परमतत्व की विशिष्ट संज्ञा
इति - ऐसे
निश्चित वचसे - व्यवस्थित वचन वाले
नमो नमः - नमस्कार हो नमस्कार हो
भगवते - भगवान को
अर्हते पूजाम् - द्रव्य तथा भावपूजा के योग्य
शान्ति जिनाय - श्री शांतिजिन को
जयवते - जयवान
यशस्विने - यशस्वी
स्वामिनी दमिनाम् - योगीओ के स्वामी योगीश्वर

अर्थ-संकलना - ॐ कार पूर्वक नाममंत्र का प्रारंभ करते हैं । १) व्यवस्थित वचनवाले २) भगवान ३) द्रव्य तथा भावपूजा के योग्य ४) जयवान ५) यशस्वी ६) योगीश्वर ऐसे श्री शांतिजिन को नमस्कार हो नमस्कार हो.. २

मूल -

सकलातिशेषक-महा-सम्पत्ति-समन्विताय शस्याय ।
त्रैलोक्य-पूजिताय च, नमो नमः शान्तिदेवाय ।।३।।

-: शब्दार्थ :-

सकलातिशेषक -महा-सम्पति-समन्विताय - चौतीस अतिशय रुप महासंपति से युक्त
सकल - समग
अतिशेषक - अतिशय
समन्वित - युक्त
शस्याय - प्रशस्त
त्रैलोक्य - त्रिलोक में पूजित
च - ओर
नमो नमः - नमस्कार हो नमस्कार हो
शान्ति देवाय - शान्ति के अधिपति श्री शांतिनाथ भगवान को

अर्थ-संकलना - ७) चौत्रीस अतिशयरुप महासंपत्ति से युक्त ८) प्रशस्त ९) त्रैलोक्यपूजित और १०) शांति के अधिपति ऐसे श्री शांतिनाथ भगवान को नमस्कार हो नमस्कार हो ३

मूल -

सर्वामर-सुसमूह-स्वामिक-सम्पूजिताय नजिताय ।
भुवन-जन-पालनोद्यत तमाय सततं नमस्तस्मै ।।४।।

-: शब्दार्थ :-

सर्वामर - सर्व देव
सुसमूह - समुह के
स्वामिक - स्वामीओं से
सम्पूजिताय - विशिष्ट प्रकार से पूजे गये
न जिताय - किसीसे भी नहीं जीते गये, अजित
भुवनजन-पालनोद्यततमाय - विश्व के लोगों का रक्षण करने में तत्पर
सततं - सदा
नमः - नमस्कार हो
स्तस्मै - उन श्री शांतिनाथ को

अर्थ-संकलना - ११) सर्व देवसमूह के स्वामीओं से विशिष्ट प्रकार से पूजे गये १२) अजित और १३) विश्व के लोगों का रक्षण करने में तत्पर ऐसे श्री शांतिनाथ को सदा नमस्कार हो.....४

मूल-

सर्व-दुरितौघ-नाशनकराय सर्वाशिव-प्रशमनाय ।
दृष्ट-ग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां प्रमथनाय ।।५।।

-: शब्दार्थ :-

सर्व-दुरितौध-नाशनकराय - सर्वभय-समुह का नाश करनेवाले

सर्वाशिव-प्रशमनाय - सभी उपद्रवों का शमन करने वाले

दुष्ट-ग्रह-भूत-पिशाच-शाकिनीनां-प्रमथनाय - दुष्ट ग्रह, भूत, पिशाच और शाकिनीओं के द्वारा उत्पन्न पीडाओं का अत्यंत नाश करने वाले

अर्थ-संकलन - १४) समग्र भय-समुहो का नाश करने वाले १५) सभी उपद्रवो का शमन करने वाले और १६) दुष्ट ग्रह, भूत, पिशाच तथा शाकिनीओं के द्वारा उत्पन्न पीडाओं का अत्यन्त नाश करने वाले ऐसे श्री शांतिनाथ को नमस्कार हो.....५

मूल -

यस्येति नाममन्त्र-प्रधान-वाकयोपयोग-कृततोषा ।
विजया कुरुते जनहितमिति च नुता नमत तंशान्तिम् ।।६।।

-: शब्दार्थ :-

यस्य - जिनके

इति - इस प्रकार के

नाम मन्त्र-प्रधान-वाक्योपयोग-कृततोषा - नाम मंत्र वाले वाक्य प्रयोगों से तुष्ट हो गई । भगवान के विशिष्ट, नामवाले मंत्र को ''नाम मंत्र'' कहा जाता है ।

वाक्योपयोग - विधि अनुसार जप या अनुष्ठान

विजया - विजया देवी

कुरुते - करती है

जनहितम् - लोगों का हित

इति - इसलिये

च - ही

नुता - स्तवना की गई

नमत - नमस्कार करो

तं - उसे

शांतिम् - श्री शांतिनाथ को

अर्थ-संकलना - जिनके (श्री शांतिनाथ के) इस प्रकार के नाममंत्र वाले वाक्य प्रयोगों से तुष्ट होकर विजया देवी लोगों का (ऋद्धि-सिद्धि देने पूर्वक) हित करती है, उन शांतिनाथ को (हे लोगो तुम) नमस्कार करो और विजया (जया) देवी कार्य करने वाली हैं इसलिये वे भी यहाँ प्रसंगानुसार स्तवित की गई हैं...६

श्री दंडक प्रकरण

श्री गजसारमुनि

गति - आगति.....

संखाउ पज्ज पणिंदि, तिरिय नरेसु तहेव पज्जत्ते ।
भू दग पत्तेयवणे, अेअेसु च्चिय सुरागमणं ।।३२।।

संख्यात वर्ष के आयुवाले पर्याप्त पंचेन्द्रिय, तिर्यंच मनुष्यों के योनि में एवम् पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय में निश्चय से देवताओं का आगमन होता है ।

देव कौन बन सकता है, जिसका परिचय आखिरी गाथामें किया फिर अब देवता कौन कौनसी गति में जा सकते है, यह बताते है -

(१) संख्याता बर्ष के आयुवाले पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में
(२) संख्यात वर्षवाले पर्याप्त पंचेन्द्रिय मनुष्यों में
(३) पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय में
(४) पर्याप्त बादर अप्काय में
(५) पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय में

देवलोक → | **पंचेन्द्रिय तिर्यंच मनुष्य**
पृथ्वी, अप्, प्रत्येक वनस्पतिकाय |

पज्जत्त संख गब्भय, तिरिय नरा निरय सत्तगे जंति ।
निरय उवट्टा अेअेसु, उववज्जंति न सेसेसु ।।३३।।

पर्याप्त संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले गर्भज तिर्यंच और मनुष्य सातों नरकों में उत्पन्न होते है, नरक से निकले हुए जीव गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य इन दोनों में उत्पन्न होते है इन दोनों के सिवाय अन्य दंडक में उत्पन्न होते नहीं ।

गर्भज तिर्यंच और मनुष्य सातों नरक में उत्पन्न हो सकते है यह उनकी गति है ।

गर्भज तिर्यंच → | **सात नारक** | **← गर्भज मनुष्य**

गर्भज तिर्यंच ← | **सात नारक** | **→ गर्भज मनुष्य**

पुढवी आउ वणस्सइ, मज्झे नारय विविज्जिया जीवा ।
सव्वे उववज्जंति, निय नियकम्माणुमाणेणं ।।३४।।

पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में नारकी छोडकर सभी जीव अपने अपने कर्मानुसार उत्पन्न होते है ।

नारकी के जीव कभी भी एकेन्द्रिय या विकलेन्द्रिय नहीं ही जाते परंतु नारकी के जीवों को छोडकर शेष सभी जीव पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते है ।

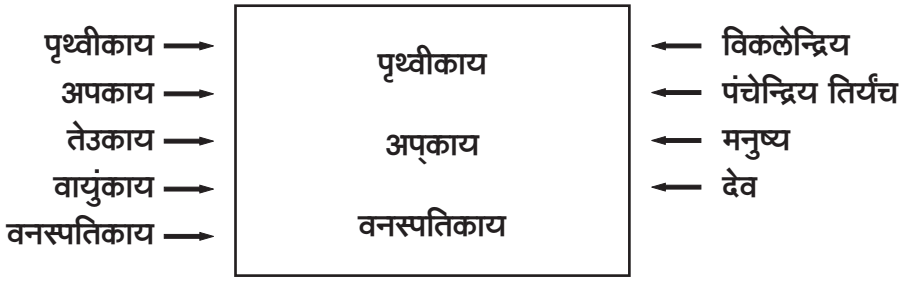

जीव जैसे कर्म करता है उसके अनुसार उसे गति मिलती है । हमे यदि शुभगति चाहिये तो शुभकर्म करने ही पडेंगे । अशुभकर्म से शुभगति नहीं मिलती ।

पुढवाइ दस पअेसु, पुढवी ताउ वणस्सइ जंति ।
पुढवाइ दस पअेहिय, तेउ वाउसु उववाओ ।।३५।।

पृथ्वीकाय दस पदों के बारे में बताते है की वे पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते है । पृथ्वीकायादि दस पदों में से निकले हुए जीव तेउकाय और वायुकाय में उत्पन्न होते है ।

पृथ्वीकायादि दस पद याने पाँच स्थावर (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) तीन विकलेन्द्रिय (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय एवं चउरेन्द्रिय) गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य ।

इन दस पद में पृथ्वी - अप और वनस्पतिकाय के जीव आते है - इन दस पदों मेंसे ही तेउकाय-वायुकाय में जाते है ।

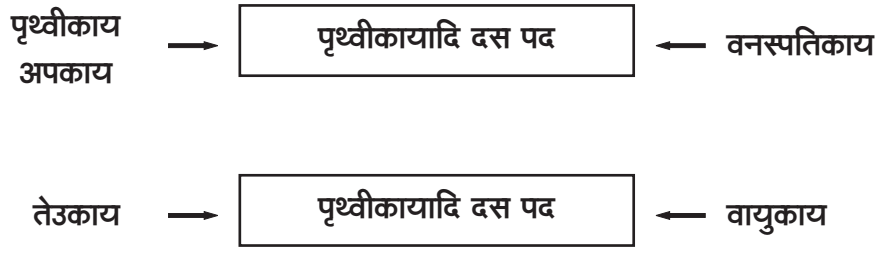

उपशम-श्रेणी से अधःपतन

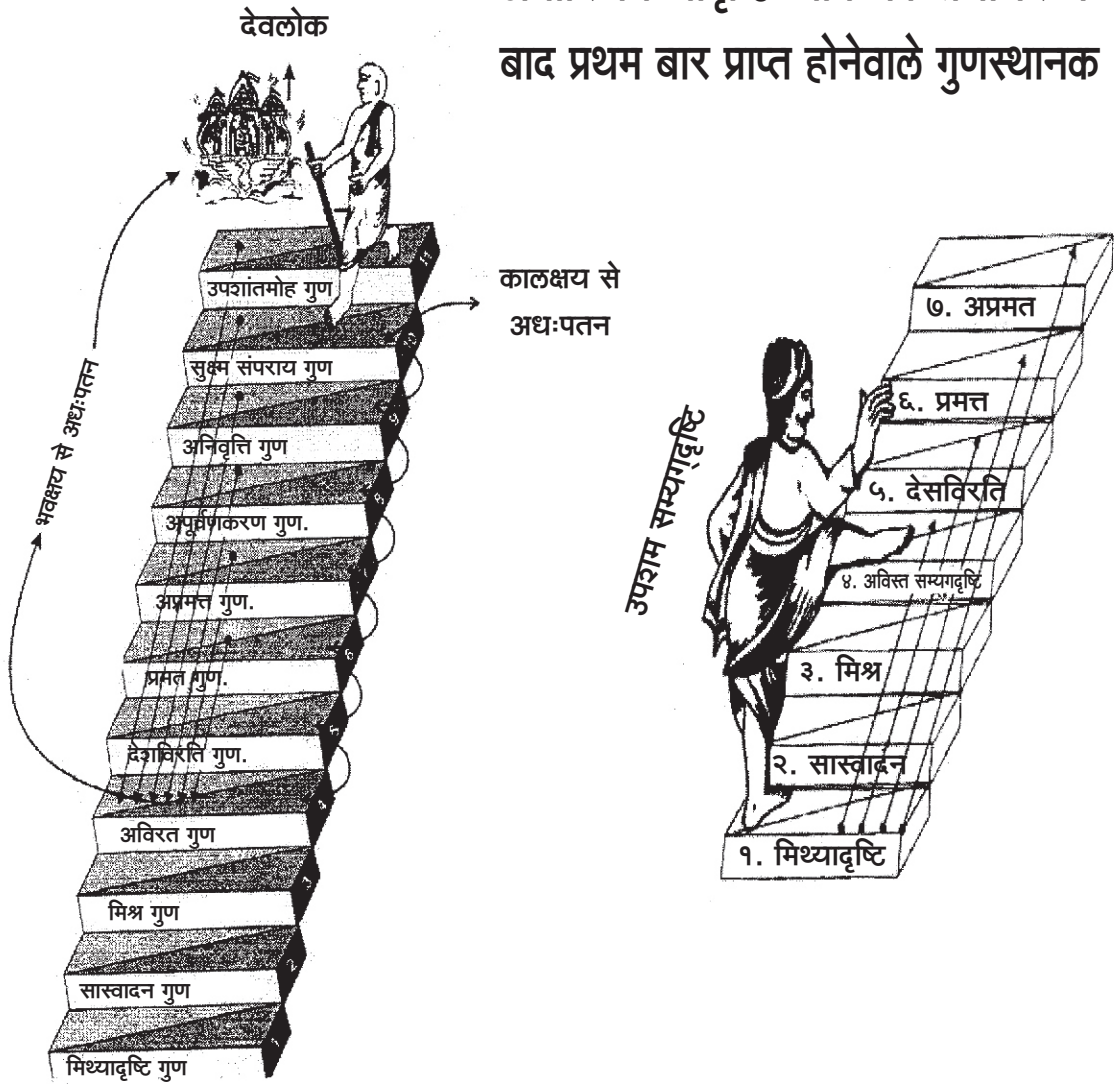

उपशम सम्यक्त्व के काल में जीव को जिन-प्रणीत तत्वों पर दृढ और अचल श्रद्धा हो जाती है । यह शान्त-प्रशान्त, स्थिर व पूर्णानन्दयुक्त हो जाता है । उसकी आत्मा कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी बन जाती है ।

गुणस्थान क्रमारोह

आधार ग्रंथ - गुणस्थान क्रमारोह पू.आ. रत्नशेखरसूरि

चराचरमिंदंविश्वं, हस्तस्थामलकोपमम् ।
प्रत्यक्षंभासतेतस्य, केवलज्ञान भास्करः ।।८४।।

वह केवलज्ञानरुपी सूर्य इस चराचर याने त्रस-स्थावररुप समस्त विश्व को हाथ में रखे हुए आंवले के फल की तरह प्रत्यक्ष देखते है । जिस तरह आंवले के फल को हाथ में लेने से उसकी नसें आदि सब अवयव प्रकटपणे दिखाई देते है उसी तरह केवली भगवंती केवलज्ञानरुपी सूर्य से इस समस्त विश्व को देखते है ।

यहाँ पर केवलज्ञान को सूर्य की उपमा सिर्फ व्यवहार से दी गई है । पर केवलज्ञान और सूर्य में बहुत फरक है । कहा जाता है की चंद्र,सूर्य, ग्रह तीनों एकत्रित हो फिर भी मर्यादित क्षेत्र ही प्रकाशित होता है, परंतु केवलज्ञान से तो समस्त लोक और अलोक भी प्रकाशीत होता है ।

विशेषात्तीर्थकृत्कर्म, येनास्त्यार्ज्जितमूर्ज्जितम् ।
तत्कर्मोदयतोत्रासौ स्याज्जिनेन्द्रोजगत्पतिः ।।८५।।

जो जीव विशेषतः अरिहन्त भक्ति प्रमुख बीसस्थानकतप का सेवन करते है वह जीव तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करता है, क्योंकि ऐसा निश्चय से है की तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन में अरिहंतादिक बीस स्थानक की भक्ति मुख्य है ये बीस स्थानक निम्नोक्तानुसार है -

१) अरिहंत २) सिद्ध ३) प्रवचन ४) आचार्य ५) स्थविर ६) उपाध्याय ७) तपस्वी ८) ज्ञान ९) दर्शन १०) विनय ११) आवश्यक १२) शीलव्रत १३) क्रिया १४) तप १५) गौतम १६) वैयावच्च १७) समाधि १८) अपूर्वज्ञान ग्रहण १९) श्रुत भक्ति २०) तीर्थ प्रभावना

इन बीस स्थानकों के सेवन से जिस जीव ने तीर्थंकर नामकर्म प्राप्त किया वह जीव सयोगी गुणस्थानक पर तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से केवलज्ञानी बनकर जगत्पति त्रिभुवनाधिपति बनता है । वह जिनेंद्र कहलाते है । जिन याने सामान्य केवली उनमें इन्द्र समान वह ''जिनेन्द्र'' ।

ससर्वातिशयैर्युक्तः सर्वामरनरैर्नतः ।
विरंविजयतेसर्वो - त्तमंतीर्थप्रवर्त्तयन् ।।८६।।

तीर्थंकर प्रभु चौतीस अतिशयों से युक्त होते है । ये चौतीस अतिशय क्या है यह बताते हुए कहते है - (१) चार अतिशय जन्म से होते है २) ग्यारह अतिशय कर्मक्षय से होते है ३) उन्नीस अतिशय देवकृत होते है इस तरह (४+११+१९=३४ चौतीस संपूर्ण अतिशय तीर्थंकर प्रभु को होते है, मनुष्य और देवता उन्हें नमस्कार करते है, पूजते है, श्रेष्ठ सर्वोत्तम उपदेश से तीर्थंकर शासन प्रवर्तातें हैं ।

वेद्यतेतीर्थकृत्कर्म तेनसद्देशनादिभिः
भूतले भव्य जीवानां, प्रतिबोधादिकुर्वता ।।८७।।

तीर्थंकर परमात्मा निर्मल देशना देकर भूतल पर अनेक भव्योत्माओं को प्रतिबोधित कर सर्वविरति - देशविरति आदि व्रत देकर तीर्थंकर नामकर्म को भोगते है । धर्मदेशना देने में अग्लान बनकर तीर्थंकर नामकर्म भोगते है ।

उत्कृष्टतो ष्टवर्षोनं पूर्वकोटीप्रमाणकम् ।
कालयावन्महीपीढे केवली विहरत्यलम् ।।८८।।

केवलज्ञानी भगवंत पृथ्वीपीठपर उत्कृष्ट से आठ वर्ष कम पूर्व क्रोड वर्ष प्रमाण काल तक सुवर्णकमलोंपर पैर रखकर विचरते है । अष्टमहाप्रातिहार्य साथ होते है । करोडो सुर-असुर सेवा करते है जिनके चरण कमलों की, ऐसे तीर्थंकर परमात्मा मध्यम आयुष्यवाले होते है । यहाँपर जो आयुष्य स्थिति बतायी है (देशोन पूर्व, क्रोड वर्ष) वह सामान्य केवली की अपेक्षा से है ।

चेदायुषः स्थितिर्न्यूना सकाशाद्वेद्यकर्मणः ।
तदातत्तुल्यताकर्तु समुद्घातं करोत्यसौ ।।८९।।

जब केवली भगवंत के वेदनीय कर्मों की स्थिति से आयुष्य कर्म की स्थिति अल्प होती है तब दोनों को समान करने के लिए अर्थात् वेदनीय और आयुष्य कर्म की स्थिति को समान करने हेतु केवली समुद्घात करते है ।

समुद्घात स्वरूप

दंडत्वंचकपाटत्वं, मन्थानत्वंचपूरणम् ।
कुरुतेसर्वलोकस्य चतुर्भिः समयैरसौ ।।९०।।

प्रथम समुद्घात का स्वरुप बताते है -

आत्मा स्वस्वभावमें रहे हुए आत्मप्रदेशों को सात कारणों से पर स्वभाव में परिणमाता है । उसे समुद्घात कहते है । ये सात कारण बताते है - १) वेदना समुद्घात २) कषाय समुद्घात ३) वैक्रिय समुद्घात ४) मरण समुद्घात ५) तेजस समुद्घात ६) आहारक समुद्घात और ७) केवली समुद्घात

केवली समुद्घात केवलज्ञानी को ही होता है, अन्य को नहीं । केवली समुद्घात में केवली प्रथम समय में अपने आत्मप्रदेशों के उर्ध्व और अधो लोकान्त तक शरीर से बाहर निकालकर दंड बनाता है, फिर दुसरे समय में आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम फैलाकर कपाट बनाता है ।

तिसरे समय में मथनी की रचना करते है । चौथे समयमें समस्त चौदह राजलोक में आत्मप्रदेशोंको फैलाकर चौदहराज लोक भर देते है ।

एवमात्मडप्रदेशान्तं प्रसारणविधानतः ।
कर्मलेशानसमीकृत्यो त्क्रमात्तस्मान्निवर्त्तते ।।९१।।

उपरोक्त विधिं से केवली आत्मप्रदेशों को चौदह राजलोक में फैलाकर कर्मों की स्थिति को (सम) समान कर लेते है । कपडे को दोहरा, चौहरा कर सुकाया जाय तो जल्द सुख जाता है । उसी तरह आत्मप्रदेश फैलाये जाये तो कर्म की स्थिति अल्प हो जाती है ।कर्मनिर्जरा जल्दी हो जाती है ।

कार्य सिद्ध हो जाने के बाद पुनश्च केवली अपनी मूल स्थिति में आने के लिये आत्मप्रदेशों को समेटता है । यह क्रिया कैसी होती है ? यह बताते है - पांचवे समय में चौदह राजलकि में फैले हुए आत्मप्रदेशों को वापिस खींच लेता है, छठ्ठे समय में मथनी को समेटता है, सातवे समय में कपाट संहरित करता है, आठवे समय में दंड को संहरता है और पुनः स्वभावस्थ होता है ।

इस तरह आठ समय में केवली समुद्घात की विधि संपूर्ण होती है ।

समुद्घातस्य तस्याद्ये, चाष्टमेसमये मुनिः ।
औदारिकाड गःस्यात् , द्विषद्सप्तमकेषुच ।।९२।।
मिश्रौदारिकयोगीच, तृतीयाद्येषुतुत्रिषु ।
समयष्वेककमंगि, धरोनाहारकश्व सः ।।९३।।

केवलज्ञानी भगवंत केवली समुद्घात करते है तब पहले एवं आठवे समय में औदारिक योगवाले होते है । दुसरे, छठवे और सातवे समय में मिश्र औदारिक योग होता है, परंतु यहाँ पर मिश्रपना कार्मण शरीर के साथ

औदारिक शरीर का जानना । तिसरे चौथे और पांचवे समय में केवल कार्मणयोग होता है । जब केवल कार्मण योग होता है तब उन तीन समय में केवली अणाहारी होता है.... बाकी समय में आहारी होता है । केवली समुद्घात नियम से आठ समय का होता है ।

यःषमासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् ।
करोत्यसौसमुद्घात, मन्येकुर्वन्तिवानवा ।।९४।।

छः मास से अधिक आयुष्यवाले केवलज्ञानी केवलज्ञान को प्राप्त करते है, वे नियम से केवलीसमुद्घात करते है । केवलज्ञान प्राप्त करते वक्त जिनका आयुष्य छः मास से कम होता है, उनके लिये समुद्घात की भजना है, वह समुद्घात करता भी है और नहीं भी करता ।

समुद्घातान्निवृत्तोसौ मनोवाक्काययोगवान् ।
ध्यायेद्योगनिरोधार्थ शुक्लध्यानं तृतीयकम् ।।९५।।

मन,वचन, काया के योगवाले केवली भगवंत, केवली समुद्घात से निवृत्त होकर योग निरोध के लिए तिसरे शुक्लध्यान का ध्यान करते है । शुक्लध्यान का आरंभ करते है ।

आत्मस्पंदात्मिका सूक्ष्मा, क्रियायत्रानिवृत्तिका ।
तत्तृतीयभवेच्छुक्ल सूक्ष्मक्रिया निवृत्तिकम् ।।९६।।

केवली भगवंतो को केवली समुद्घात के बाद तिसरा सूक्ष्मक्रिया, निवृत्ति नामक शुक्लध्यान होता है । इस शुक्लध्यान में आत्मव्यापाररुप सूक्ष्मक्रिया से निवृत्ति नहीं होती । यानी आत्मव्यापार रुप सूक्ष्म क्रिया होती है । पर स्थूल क्रिया से निवृत्त होते है ।

बादरकाययोगेस्मिन् स्थितिंकृत्वास्वभावतः ।
सूक्ष्मी करोति वाकचित्त, योगयुग्मसबादरम् ।।९७।।

केवली भगवंत सूक्ष्मक्रिया निवृत्ति नामक तिसरे शुक्लध्यान के पश्चात अचिंत्य आत्मवीर्य शक्ति से बादर काययोग में स्वभाव से स्थिति कर बादर वचन एवं बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते है ।

त्यकत्वास्थूलंवपुर्योगं, सूक्ष्मवाकचित्तयोः स्थितिम् ।
कृत्वानयतिसूक्ष्मत्वं, काययोगं च बादरम् ।।९८।।

केवली भगवंत स्थूल-बादर काययोग का त्याग कर सूक्ष्म वचन योग की अथवा सूक्ष्म मनोयोग की स्थिति बनाकर बादर काययोग को सूक्ष्म करते है ।

ससूक्ष्मकायगोगेऽथ, स्थितिं कृत्वापुनःक्षणम् ।
निग्रहंकुरुतेसद्यः, सूक्ष्मवाकचित्तयोगयोः ।।९९।।

केवली भगवंत सूक्ष्मयोग में क्षणमात्र स्थिति कर तत्काल सूक्ष्मकाययोग का एवं सूक्ष्ममनोयोग का निग्रह कर अर्थात सब प्रकार के सूक्ष्म मन वचन के योग के संभव का अभाव करते है ।

ततःसूक्ष्मेवपुर्योगे, स्थितिः कृत्वा क्षणंहिसः ।
सूक्ष्मक्रियंनिजात्मानं, चिद्रूपंविभ्दतिस्वयम् ।।१००।।

केवली भगवंत सूक्ष्म काययोग में क्षणः की स्थिति कर निज आत्म द्रव्य को सूक्ष्मक्रिया चिद्रुप स्वयं अनुभव करते है ।

छद्मस्थस्ययथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते ।
तथैववपुषः स्थैर्य, ध्यानं केवलीनो भवेत् ।।१०१।।

जिस तरह छद्मस्थ साधु का मन स्थिर होता, उसे ही ध्यान कहते है । उसी प्रकार शरीर का निश्चल होना, यही केवली भगवंत की दृष्टि से ध्यान है ।

चौदह गुणस्थान में आरोह - अवरोह

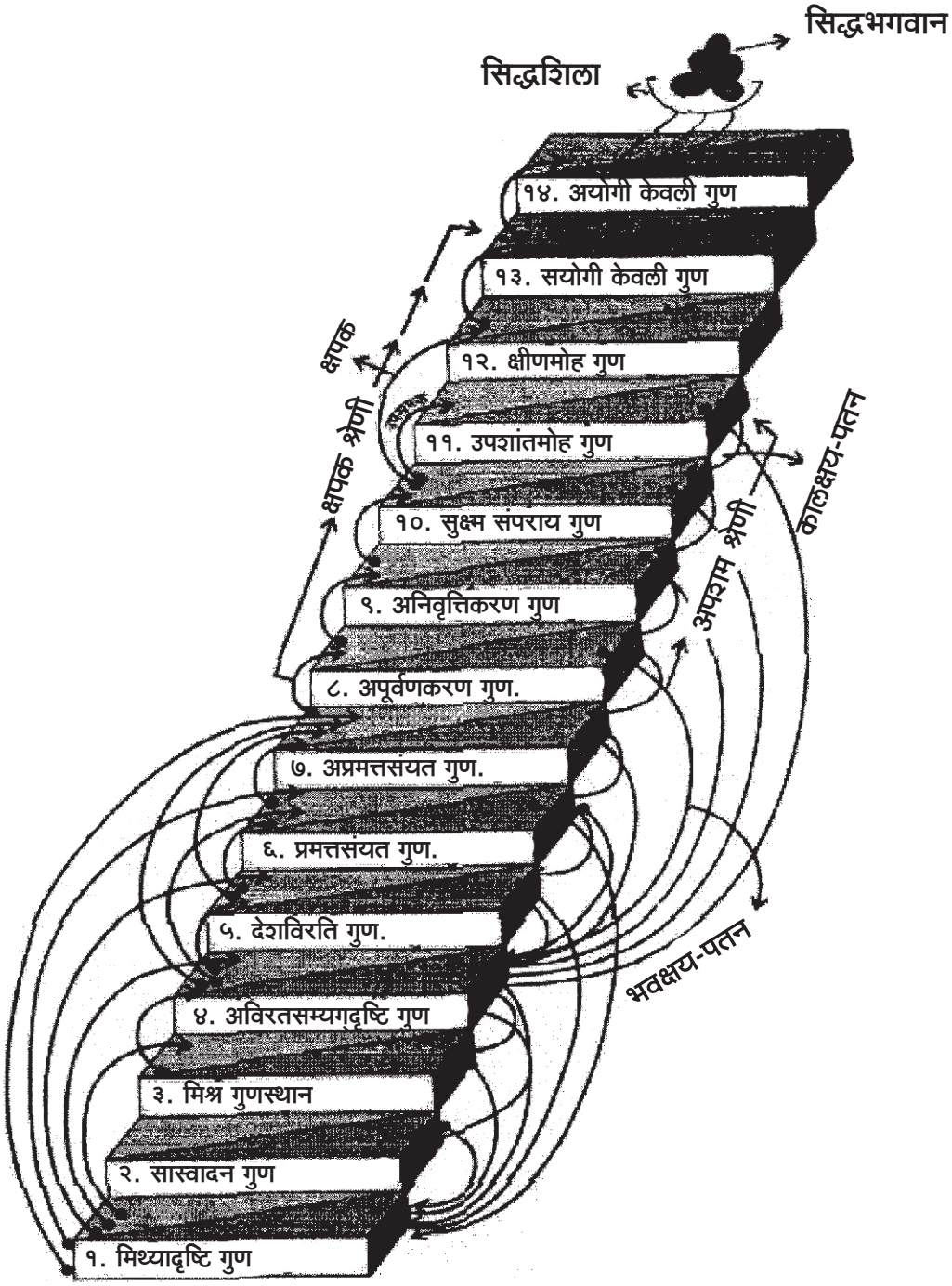

जिनशासन के महाप्रभावक आचार्य भगवंत

आधारग्रंथ
तवारीखी तेजछाया

(७४) तपागच्छ प्रवर्तक आचार्य श्रीजगच्चंद्रसूरि महाराज

बार वरस आंबिल करी आव्या आहड मांह,
''तपा'' बिरुद त्यां दरिओ राणाअे धरी उत्साह;
वाद चोरासी जीतिया वकिरिआ कियो उद्धार,
बिरुद धराव्युं ''हिरला'' धन धन ते अणगार ।
(महो. विनयविजयगणिकृत गणधर पट्टावली)

आचार्य जगच्चंद्रसूरि म. तपस्वी, आगम के गहन अभ्यासी, वादविजयी तथा बहुत प्रभावी एवं प्रतापी सूरिवर थी । तपागच्छ उनके तप के प्रभाव से ''तपा'' के बिरुद से निकला है ।

श्रीजगच्चंद्रसूरि वडगच्छ के श्रीमणिरत्नसूरि के शिष्य आचार्य श्री सोमप्रभसूरि तथा गुरुश्रीमणिरत्नसूरि ने दोनों ने अपनी पाट पर आचार्य जगच्चंद्रसूरि को स्थापित किया था । श्रीसुधर्मास्वामी की पाटपरम्परा में श्रीजगच्चंद्रसूरि ४४ वें पट्टधर थे ।

श्री जगच्चंद्रसूरि के जन्मस्थल और समय की कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है । श्रेष्ठी पूर्णचंद्र पोरवाल को सलक्षण, वरदेव और जिनदेव नामक तीन पुत्र थे, उसमें से सबसे छोटे जिनदेव वो जगच्चंद्रसूरि बने । बाल्यावस्था से शांत, सुसंस्कारी, तेजस्वी तथा धर्म के प्रति स्नेह और संसार के प्रति वैराग्य ऐसी धार्मिकवृति वाले बालक थे । उनकी यह परिणति आगे जाकर त्यागमार्ग में परिणित हुई और श्रमणसंघ में सबके प्रिय ऐसे आचार्य मणिरत्न सूरि के पास दीक्षा अंगीकार की, मुनि जगच्चंद्र के नाम से उनके शिष्य बने । इस दीक्षा के समय या स्थल के बारे में कोई भी आधारभूत जानकारी नहीं मिलती है । गुरुदेव श्रीमणिरत्नसूरि लगभग १२७४ में स्वर्गवासी हुए, पं. जगच्चंद्रगणि ने तब से आयंबिल तप सुरु किया और आचार्य सोमप्रभसूरि की सेवा में रहकर जिनागमो का विशाल और तलस्पर्शी ज्ञानसंपादन किया । आचार्य सोमप्रभसूरि ने उन्हें गच्छनायक पद प्रदान किया और उनका नाम जगच्चंद्रसूरि रखने में आया । श्रीसोमप्रभसूरि वि.सं. १२८४ में स्वर्गवासी हुए ।

श्रीजगच्चंद्रसूरि त्यागी, बैरागी, संवेगी तथा चारित्र धर्म के चुस्त आग्रही थे । आगमो के ज्ञाता थे और उनके अर्थो के गहन चिंतक थे । उस समय मुनिसमुदाय में कालवश, क्रियाशिथिलता व्याप्त हो गयी थी, वो दूर करने वे चिंतित और उत्सुक थे । श्रीसोमप्रभसूरि के स्वर्गवास के पश्चात वे मेवाड पधारे मेवाड में उस समय संवेगी, बैरागी, शुद्ध आचारवाले, आगमान नुसार चारित्र को धारण करनेवाले और श्रमणसंघ में विशुद्ध गुणवाले के रुप में प्रसिद्ध आदरणीय चैत्रवालगच्छ के पं. श्रीदेवभद्रगणि विचरण कर रहे थे, वे आगम के ज्ञाता और उसके अर्थो के मर्मज्ञ थे । श्रीजगतच्चंद्रसूरि उन्हें मिले और उनकी सहायता से उन्होंने क्रियोद्धार किया । इस क्रियोद्धार के समय उनके साथ पं. देवेन्द्रगणि भी थे, जो बाद में उनके पट्टधर आचार्य देवेन्द्रसूरि हुए ।

श्रीजगच्चंद्रसूरि ने इस आगमोक्त क्रिया को प्रतिष्ठित और सफल बनाने, असाधारण बनाने हेतू असाधारण त्यागवृति स्वीकारी और दृढ मनोबलपूर्वक निरंतर परिश्रम कर अद्‌भुत हीर दर्शाने के कारण उन्हें ''हीरला जगच्चंद्रसूरि'' ऐसा बिरुद देने में आया । यह बिरुद मिलने के पीछे दूसरा एक ऐसा उल्लेख भी है कि, श्रीजगच्चंद्रसूरि अभेद्य ज्ञानी और महान तपस्वी थे । उन्होंने आघाटपुर में (उदयपुर के पास के आहाड गांव में) ३२ दिगंबराचार्यो के साथ वाद कर, विजय प्राप्त करने पर मेवाड के राजा जैत्रसिंह का उन्हें ''हीरा'' का मानभरा बिरुद देने से वे ''हीरला जगच्चंद्रसूरि'' के नाम से विख्यात हुए ।

गुरुदेव श्री मणिरत्नसूरि स्वर्गवासी बने तब से श्रीजगच्चंद्रसूरि ने आजीवन आयंबिल तप शुरु किया था । इस तप के बारहवें वर्ष के दरम्यान वे आहाडपुर में नदी के किनारे जाकर हमेशा आतापना लेकर ध्यान करते थे, उनकी इस तपस्या और ध्यान के प्रभाव से उनका रुप, तेज और प्रभाव बढ गया था । मेवाड के राजा जैत्रसिंह ने उनके त्याग और तप की प्रशंसा सुनी वे आचार्यश्री के दर्शन करने वहां नदी किनारे आये । वहाँ आचार्याश्री का तेजसे चमकता मुखारविंद और कांतिमान देह देखकर गुरुदेव महातपस्वी है ऐसा बोल उठे और उन्हें ''तप'' बिरुद दिया । तब से यानि की वि.सं. १२८५ से आचार्य जगच्चंद्रसूरि की शिष्य परम्परा ने ''तपागच्छ'' के रुप में प्रसिद्धि पायी, यह तपागच्छीय निर्ग्रंथगच्छ का छट्ठा नाम है प्रथम निर्ग्रंथ गच्छ के श्रीसुधर्मास्वामी, दूसरे कोटिकगच्छ के श्रीसुस्थितसूरि, तीसरे चंद्रगच्छ के श्रीचंद्रसूरि, चौथे वनवासी गच्छ के श्रीसामंतभद्रसूरि, पांचवे वडगच्छ के श्रीउद्योतनसूरि और छठ्ठे तपागच्छ के श्रीजगच्चंद्रसूरि प्रवर्तक थे ।

आचार्य जगच्चंद्रसूरि मेवाड से विहार कर गुजरात पधारे वहाँ महाअमात्य वस्तुपाल, तेजपाल ने उन्हैं अति सम्मान दिया । वस्तुपाल के द्वारा निकाले गये ऐतिहासिक श्रीशत्रुंजयतीर्थ यात्रा संघ में तथा उसी तरह उनके द्वारा शत्रुंजय, गिरनार और आबु-देलवाडा की प्रतिष्ठाओ के प्रसंग पर श्रीजगच्चंद्रसूरि उपस्थित रहे थे, उन्होंने मेवाड और गुजरात में विचरकर अपूर्व शासनप्रभावना का प्रवर्तन किया ।

श्रीजगच्चंद्रसूरि के उपदेश से वीरा देशपाल ने वि.सं. १२९५ में पाटण में भीमदेव के राज्य में ''नायाधम्मकहाओ'' वगैरह छः अंग टीका सहित लिखाये थे, यानि स्पष्ट है कि, आचार्य जगच्चंद्रसूरि वि.सं. १२९५-९६ में स्वर्गवासी हुए होंगे, उन्होंने अपनी पाट पर श्रीदेवेन्द्रसूरि को स्थापित किया था ।

(१५) पायचंद के स्थापक आचार्य श्रीपार्श्वचंद्रसूरि महाराज

जैन श्रमण परम्परा में श्रीपार्श्वचंद्रसूरिजी का नाम एक महान क्रियोद्धारक के रुप में आता है । विक्रम के सोलहवें शतक में जैनश्रमण संघ के सुविहित (शास्त्रानुसार) साधुधर्म की पुनःस्थापना का अभियान उन्होंने चलाया और उसमें सफलता प्राप्त कर चिरस्मरणीय बन गये । शिथिलाचार, अव्यवस्था और जडता की छाया में आ गये श्रमणवर्ग को सक्रिय, सुगठित और स्थिर करने के लिये उन्होंने अपनी समग्र शक्ति समर्पित कर उस युग को सच्चा मोड देने में निमित्त बने, इस अर्थ में वे ''युगप्रधान'' थे इसके उपरांत वे ''पार्श्वचंद्र गच्छ'' (पायचंद गच्छ) के प्रवर्तक भी थे ।

गिरिराज आबु के नजदीक हमीरपुर (हमीरगढ) नामक नगर में पोरवालवंशीय श्रेष्ठी वेलगशाह की पत्नी विमलादे ने पुत्र को जन्म दिया । सं. १५३७ की चैत्र सुद नवमी को जन्मे इस बालक का नाम ''पासचंद'' रखने में आया, पासचंद जन्मजात महानता के धारक थे. कोई उदात्त जीवनकार्य उनकी प्रतीक्षा कर रहा हो ऐसे बालवय से ही उन्होंने साधना का पंथ पकडा । सिर्फ नौ साल की उम्र में पासचंद ने नागोरी तपागच्छ के पंन्यास श्रीसाधुरत्न के पास दीक्षा ली । थोडे समय में विविध विषयो का अभ्यास कर लिया, जैन आगमो का गहन अध्ययन उन्होंने किया । उनकी विद्वता और दक्षता देखकर नागोरी तपागच्छाधिपति श्रीसोमरत्नसूरि ने स. १५५४ में उन्हें उपाध्याय पद प्रदान किया ।

शुद्धिमार्ग पर पुनः प्रस्थानः- आगमो और शास्त्रो के गहन परिशीलन से उन्होंने देख लिया कि आगमविहित आचार मर्यादा और उस समय प्रचलित साधु व्यवहार के बीच बहुत अंतर है । देशकाल के नाम पर और लाभालाभ के बहाने मुनिजीवन में अक्षम्य कही जा सके ऐसी छूटछाट ली जाती थी । प्रायः सारे गच्छो के मुनि शिथिलाचारवश ''चैत्यवास'' की स्थिति पर पहूँच गये थे । सूत्र और शास्त्र के अर्धघटन में भी काफी उलझनो का प्रवर्तन हो गया था। पार्श्वचंद्रजी को यह गडबड और अव्यवस्था खटकने लगी । अपने गुरु श्रीसाधुरत्न पंन्यास के साथ चर्चा कर ''क्रिया का पुनरुद्धार'' करने की आज्ञा मांगी और पंन्यासजी ने सहर्ष अनुमोदना के साथ अनुमति दी । उपा. पार्श्वचंद्र ने अनेक बाबतो में साफ-सफाई आरंभ की । अनेक प्रकार की रुढियो और मान्यताओ को पंचागी आगम की कसौटी पर कस उसके स्वीकार या अस्वीकार का निर्णय किया । इसके लिये उन्होंने खूब संशोधन और तुलनात्मक निरीक्षण किया, उनके किये संशोधन-परीक्षण की प्रतीति देते संख्याबंध लेख, पट्टक, प्रकरणो आज भी प्राचीन ज्ञान भंडारो में हस्तलिखित ग्रंथ के रुप में विद्यमान है । उपाध्यायजी ने वि.सं. १५६४ में नागोर में ''क्रियोद्धार'' किया अर्थात पांच महाव्रतयुक्त साधुधर्म के चुस्त पालन के साथ साधनामार्ग पर पुनः प्रस्थान किया ।

शिथिल व्यवहार का अंत लाने के लिये स्थापित परंपराओ की साफ सफाई के लिये उन्होंने लंबा संघर्ष किया, इसमें उन्हें कुछ कम सहन नहीं करना पडा था । रुढिप्रिय वर्ग की तरफ से उनका खूब विरोध हुआ और अवरोध आये विचित्र आक्षेप लगाये गये, उपाध्यायजी ने प्रत्येक आक्षेप, शंका और प्रश्नो का उत्तर शास्त्राधार से, कटुता से दूर रहकर, समभाव से दिया । जो असत्य या अशुद्ध लगा उसकी निर्भिकता से आलोचना उन्होनें की । उनके प्रयत्नों का शुभ प्रत्याघात भी पडा ही, उन्होंने किया शुद्धीकरण और नवजागरण कदम-कदम पर तत्कालीन श्रमणवर्ग में कार्यान्वित हो उठा ।

आ. पार्श्वचंद्रसूरिजी का जीवन तपःपूत, निष्काम, सात्विक और परोपकारी था । उनके त्यागी, तपोनिष्ठ जीवन का प्रभाव लोगों पर पडा । पवित्र जीवन और मैत्री, करुणा, समभाव को प्राधान्यता देती उपदेश शैली से जीवन परिवर्तन और समाजसुधार के आदर्श उदाहरणो का सर्जन हुआ । राधनपुर में हिन्दुओ और मुस्लिमो के बीच लंबे समय से चल रहे झगडे का अंत, उनावा में सोनी लोगो के ५०० घरो द्वारा जैनधर्म का स्वीकार, ''मुणोत'' ''लोढा'', ''बांठिया'' वगैरह बावीस गोत्रो के क्षत्रियो द्वारा जैनधर्म का अंगीकार आदि प्रसंग आचार्यश्री की प्रभावकता के सूचक है । जोधपुर के महाराजा राव गांगा और उनके पुत्र राव मालदेव उनके आजीवन भक्त थे । उनके नाम के साथ चमत्कारो की कथाये जुडी हुई है, ऐसे चमत्कार उन्होंने किये नहीं होगें पर हो गये होगें, ऐसा कहना ज्यादा योग्य है ।

पार्श्वचंद्रसूरिजी का विहार मुख्य रुप से मारवाड, मेवाड, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र कच्छ में हुए । उनके जीवन का क्रमिक वर्षबद्ध वृत्तांत नहीं मिलता है । आचार्य पद का वर्ष भी निर्णित नहीं हो पाता है । अनेक संघो ने एकत्र होकर सं. १५९९ में शंखलपुर में आचार्य श्रीसोमचंद्रसूरि के हस्तो से उन्हें युगप्रधान पद अर्पण किया था ।

वस्तुतः महापुरुषो के जीवन की स्थूल घटनाओ के द्वारा हमें उनका पूर्ण परिचय होता नहीं है । उसमें भी ऐसे ज्ञानीजनो का जीवन सूक्ष्म भूमिका पर वैचारिक स्तर पर ही ज्यादा जीवंत होता है, उनके अंतरंग व्यक्तित्व का परिचय उनके वचनो या ग्रंथो के द्वारा ही मिलता है । सद्भाग्य से श्रीपार्श्वचंद्रसूरिजी के अंतरंग को पहचानने के लिये उनके ग्रंथ और लेख अच्छे प्रमाण में उपलब्ध है, जिसमें विचारवैभव, उदात्त आशय और सत्यनिष्ठा के वास्तविक दर्शन होते है । संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा में विपुल गद्य-पद्य साहित्य रचकर उन्होंने खुल्ले हाथो से ज्ञानदान किया है । ''सप्तपदीशास्त्र'', ''संघरंगप्रबंध'', ''खंदक चरी '', ''सुरदीपिका'', ''रुपकमाला'', ''पूजाशतक'', '' विधिशतक'', '' विधिविचार'', ''उपदेशसार'', वगैरह ग्रंथो में उनके उपदेश, उनके द्वारा किये गये क्रियोद्धार की चर्चा, उनके संशोधन की व्यापकता वगैरह सम्मिलित है । उनके ग्रंथो का शांति से अवलोकन करने वाला उनके विचारो की मौलिकता, तर्कबद्धता और स्पष्टता से प्रभावित हुऐ बिना नहीं रहता है । संख्याबंध प्रकरण, छत्रीसीयाँ, बत्तीसीयाँ, कुलको, रास, स्तवन, सज्झाय, स्तुति वगैरह में उनकी विद्वता, कवित्व, भक्ति और मौलिकता के सुंदर दर्शन होते है ।

उन्होंने गद्य में लेखन बडे प्रमाण में किया है । चर्चा के लिय पट्टक, प्रश्नकारो के समाधान के लिये लेख तथा अनेक ग्रंथो का गुजराती अनुवाद (बालावबोध- ''टब्बा'') के रुप में लेखन विस्तरित हुआ है । साहित्यक्षेत्र में उनका विशेष अर्पण है । आगमो के अनुवाद पवित्र जैन आगमो का प्रचलित लोकभाषा में विवरण करने की पहल उन्होंने की । सामान्य जनता के लिये आगमो का अध्ययन सरल-सुलभ कर देने के लिये उनका यह पुरुषार्थ अनेक तरह से उल्लेखनीय है - उनके द्वारा किये गये पांच-सात सूत्रोके ''टब्बा'' की हस्तलिखित प्रतियाँ भारतभर के पुराने ज्ञानभंडारो - ग्रंथालयो में देखने को मिलती है, ये उनके कार्य की उपयोगिता के प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

आ. पार्श्वचंद्रसूरि केवल प्रचारक नहीं थे, आत्मसाधक भी थे । आत्मसाधना उनके लिये परतम क्रमांक पर थी। अंतर्मुख आराधना उनके जीवन में गूंथी हुई थी । प्रभुभक्ति का तत्व उनके द्वारा रचे गये स्तवन आदि साहित्य में घुले हुए देखने को मिलते है । विविध प्रकार के तप उन्होंने जीवन में किये थे, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग उनकी प्रमुख साधना थी । नागोर में ''सात कोरडी'' का उपाश्रय था, उसमें वे ध्यान धरने को बैठते थे ऐसा कहा जाता है । ६६ वर्ष जितने दीक्षापर्याय और ७५ वर्ष के सुदीर्घ जीवनकाल में ज्ञानोद्धार और क्रियोद्धार और आत्मोद्धार के लिये अथाह पुरुषार्थ करने वाले इस धर्मवीर पुरूष ने जीवन के संध्याकाल में जोधपुर में अनशन किया, सं. १६१२ की मार्गशीर्ष सुद तीज के दिन उनका देहविलय हुआ ।

साढे चार सौ वर्ष पूर्व इस महापुरुष के जीवन और कवन में श्रद्धा, संवेग, धर्मशौर्य और अन्वेषक बुद्धि प्रबलरुप से मुखरित होती दिखती है । धर्मजागृति का ऐसा उत्तरदायित्व अदा करने वाले श्रीपार्श्वचंद्रसूरिजी विचार, आराधक वर्ग के गहरे आदर के अधिकारी है, तो दूसरी ओर कवि, गद्यकार, जैन आगमो के अनुवादक के रुप में व्यापक विद्वानवर्ग में भी इतने ही आदरपात्र माने जाते है । संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा में उनके द्वारा सर्जित विपुल गद्य,पद्य साहित्य अभी तक पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है । जैनागम, पुरानी गुजराती भाषा, साहित्य और इतिहास के अभ्यासी वर्ग के लिये इस साहित्य में प्रचुर अभ्यास सामग्री निहित है । धर्मसुधारणा के प्रखर पुरस्कर्ता के रुप में जिन्हैं विश्व के क्रांतिकारियो में से एक गिना जा सके ऐसे श्रीपार्श्वचंद्रसूरिजी ने उस समय की चर्चा और विचारणा आज के तब्बके में भी जैन संघ के अग्रणीयो की प्रेरक और दिग्दर्शन बन सके ऐसी है । श्रीपार्श्वचंद्रसूरिजी की कृतिओ के प्रकाशन का प्रयास ई.सं. १९१३ में कोडाय (कच्छ) की सदागम प्रवृति संस्था द्वारा शाह हेमराज भीमशी ने किया था । ''श्रीमत्पार्श्वचंद प्रकरण माला भाग -१'' इस नाम से सूरिजी की गुजराती कृतियो का वो एक संग्रहमात्र था । उसके बाद साहित्योपासक विद्वान आचार्य श्री सागरचंद्रसूरिजी ने ''सुरदीपिका'' आदि प्रकरण संग्रह ''सप्तपदीशास्त्र'' वगैरह पुस्तको में कितनी ही कृतियाँ प्रगट की है । यह प्रसिद्ध हुई पुस्तक अल्प तथा उसी तरह स्वसमुदाय वर्ग तक ही सीमित रही है । उपर से, यह साहित्य संशोधनात्मक संपादन पद्धति से यद्यपि प्रकाशित करने का भी बाकी ही है । इसके लिये यत्न हो और सर्व समुदाय में खास करके अधिकारी वर्ग में यह साहित्य पहुँचे यह जरुरी है, कारण कि श्रीपार्श्वचंद्रसूरीजी का जीवन उसी तरह कवित्व आज भी प्रेरणास्पद बना रहे ऐसा है.....

(१६) महोपाध्याय

श्री यशोविजयजी गणिवर

पाटण के नजीदीक का कनोडुं गांव.....

वहाँ रहते थे वणिक श्रेष्ठि नारायण.....

उनके धर्मपत्नी थी श्राविका सौभाग्य देवी.....

उनके कुलदीपक थे जशवंतकुमार.....

वे बचपन से अत्यंत तेजस्वी और बुद्धिशाली थे, इसका पर्चा हमें वे बाल्यावस्था में सिर्फ माता के साथ उपाश्रय जाते तब साधु भगवंत के मुख से श्री ''भक्तामर स्तोत्र'' का पाठ सुन-सुनकर ही कंठस्थ हो गये प्रसंग पर से मिलता है । हुआ ऐसा की माता का चातुर्मास दरम्यान एक नियम ऐसा था कि मुनिराज के मुख से श्री ''भक्तामरस्तोत्र''का श्रवण करने के बाद ही नवकारशी का पच्चक्खाण करना ओर एक बार गांव में जोरदार और लगातार बरसात के कारण नदी के उस पार आये उपाश्रय में नहीं जा पायी इसलीये माता ने उस दिन चौविहार उपवास किया, उसकी जानकारी बालक जसवंत को मिली इसलीये उसने माता से पूछा कि ''माँ ! अपने आज कुछ खाया नहीं ?'' तब माता ने अपने नियम की बात की, इस पर बालक जसवंत ने तुरंत कहा कि ''माँ ! मुझे वो आता है ।'' अपने बालक की ऐसी बात सुन माता को आश्चर्य हुआ और जिज्ञासावश पूछा ''सचमुच तुझे आता है ?'' तो बाल जसवंत ने फिर से वैसा ही कहा और माता के समक्ष पूरा ''भक्तामर स्तोत्र'' एक भी भूल किये बिना बोल गया, वो सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ और बालक को प्यार से छाती से चिपका लिया । यह प्रसंग घटा तब बालक जसवंत की उम्र मात्र चार वर्ष की थी और उस जमाने में तो अभी के तरह दो ढाई साल में बालक को स्कूल में या के.जी. वगैरह में डालने में नही आता था । उस जमाने में तो सात-आठ वर्ष का बालक हो जाय फिर ही विद्यालय में डालने में आता था । जिस बालक को गुजराती भाषा का कक्का बाराखडी भी नहीं आती हो वो बालक ऐसा संस्कृत का महान स्तोत्र मात्र सुनकर अनायास ही याद रख सके उस बालक की प्रज्ञा (बुद्धि) कैसी अद्‌भुत होगी उसकी तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते ।

उन्होंने वि.सं. १६८८ में पूज्यपाद नयविजयजी म.सा. के पास दीक्षा ली... गुरु भगवंत ने नाम दिया मुनि यशोविजयजी, जशवंत के बंधु पद्मसिंह भी दीक्षित हुए.... नाम पडा मुनि पद्मविजयजी ।

मुनिश्री यशोविजयजी की तेजस्विता, बुद्धिप्रतिभा और सुयोग्यता वगैरह को अवधान के प्रयोग द्वारा पहचान कर फिदा..... हुए श्रेष्ठि श्रीघनजी सुरा ने गुरु भगवंत से निवेदन किया कि इस महात्मा को काशी जाकर विद्याभ्यास कराओ तो श्रीजिनशासन को दूसरे हरिभद्रसूरि म. सा. या हेमचंद्रसूरि म.सा. मिलेंगे । इसके लिये सारी व्यवस्थाओ का लाभ भी स्वयं ने ही लेने की तत्परता दिखायी, तद्‌अनुसार गुरु भगवंत के साथ मुनि यशोविजयजी ने काशी की ओर विहार किया.....

गंगा नदी के किनारे ऐंकार के जाप से श्रीसरस्वती देवी को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त किया । काशी में

तीन बरस और फिर आगरा में चार बरस तक प्रकांड विद्वान भट्टाचार्य के पास बडदर्शन वगैरह का गहन अध्ययन किया । काशी में बाहर से आये विद्वान ने वाद का आव्हान फेंका, कोई झेल नहीं पाया, कोई जीत नहीं सका, तब मुनि यशोविजयजी ने यह आव्हान झेल लिया और स्थाद्वाद का आलम्बन लेकर विजय प्राप्त की, फिर सौ ग्रंथो की रचना की इसलीये काशी के विद्वानो ने उन्हैं ''न्याय विशारद'' और ''न्यायाचार्य'' ये दो सम्मान भरे बिरुद दिये ।

मुनि यशोविजयजी ने संस्कृत -प्राकृत और गुजराती भाषा में अनेक बेजोड रचनाये की है । जिनके नाम के अंत में ''रहस्य'' आये ऐसे ''न्याय रहस्य'', ''नय रहस्य'', उपदेस रहस्य'', ''स्यादवाद रहस्य'' वगैरह १०८ ग्रंथो की रचना उन्होंने की है । हमारे लिये आनंद की बात यह है कि उनके स्वहस्तो से लिखित ''अध्यात्मसार'' और ''कृर्मप्रकृति'' की हस्तप्रते अभी भी गुजरात के विविधि ज्ञानभंडारो में सम्हाली हई है । इसके अतिरिक्त अन्य भी ढेर बंध ''स्वोपज्ञवृति'' सहित ग्रंथ रचे है, अन्य कर्तुक ग्रंथो के उपर वृतियाँ रची है । गुजराती भाषा में स्तवन-सज्झाय-ढाले-टबा वगैरह रचकर लोकभोग्य साहित्य भी रचा है । जैन वाड्मय में नव्यन्याय को प्रवेश कराने का और उसके द्वारा पदार्थ को ज्यादा निश्चित रुप से प्ररुपित करने का मुख्य यश आपश्री के हिस्से में जाता है । केवलज्ञान, केवलदर्शन के बारे में क्रमिकवाद, युगपद्वाद और एकत्ववाद इन तीनो मतो के अलग - अलग नय का आलम्बन लेकर समन्वय करने का यश भी आपश्री के हिस्से में जाता है । ओष्ठय व्यंजन (प,फ,ब,भ,म) का उपयोग किये बिना करने का तर्ककर्कशवाद में आपश्री ने खंभात में विजय की वरमाला का वरण किया था । आचार्यश्री देवसूरिजी म. की अनुज्ञा से और श्रीसंघ की आग्रहभरी विनंति से आपश्री को वि.सं. १७१८ में उपाध्याय पद से अलंकृत करने में आया ।

विक्रम संवत १७४३ में उनका चातुर्मास डभोईनगर में हुआ, वहीं पर अनशन करके आपश्री ने पंडित मरण साधा था । आपश्री का समाधि मंदिर आज भी वहां आपश्री की यशोगाथा गा रहा है ।

बेजोड ग्रंथ रचकर शासन को अद्भुत ज्ञानखजाना अर्पण करने वाले महोपाध्याय यशोविजयजी गणिवर के चरणों में लाख-लाख वंदन.....

नियतिवाद

नियति यानि पहले से ही निश्चित किया हुआ ।

नियति यानि दैव..... भवितव्यता अथवा भाग्य.....

नियतिवाद यानि ही भवितव्यतावाद..... दैववाद या भाग्यवाद ।

जो कुछ होने वाला ही है..... वो पहले से ही नियत ही है, निश्चित ही है वो ही होने वाला है ।

जो भाग्य में लिखा है वो ही होने वाला है.... होकर ही रहने वाला है ।

ऐसी मान्यताओ को स्वीकारना यह नियतिवाद कहलाता है, इस वाद को मानने वाले जीव पुरुषार्थ को मानते नहीं, प्रयत्न करने की बात को फालतू मानते है ।

ऐसे जीवो की मान्यता है, जो कुछ हो रहा है, इसमें हमारी कोई गलती नहीं है.... हम कुछ कर सके ऐसा नहीं है, जो नियम है वो हजार प्रयत्न करने के बावजूद भी तोडा बदला जा सकता है ?

आज धीरे-धीरे यह नियतिवाद दुनिया में बढता हुआ नजर आ रहा है । इस नियतिवाद को स्वीकारने से जीव अपनी जवाबदारी भूल जाता है और पाप के पथ पर प्रयाण करता है ।

देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा महावीरस्वामी के वचनो की सत्यता को देखकर नियतिवाद की प्ररुपणा करके मंखलिपुत्र गौशाला ने आजीविका मत का प्रवर्तन किया । इस गौशाला के नियतिवाद में मानने वाले भक्त कुंभार सदालपुत्र को सत्य समझाने प्रभु महावीरस्वामी ने पूछा '' सदालपुत्र ! ये सारे मिट्टी के पात्र अपने आप बनते है या तेरे प्रयत्नों से बनते है ?''

नियतिवादी सदालपुत्र कहता है '' भगवान ! नियति के बल से बनते है । सारे पदार्थो की नियति स्वभाव है । अपने अपने स्वभाव अनुसार स्वयं नियति बल से बनते है । इसमे पुरुष प्रयत्न या निमित्त प्रयोग क्या कर सकता है ?''

प्रभु महावीर ने कहा ''सदालपुत्र ! यदि कोई आदमी लकडी से तुम्हारे यह बर्तन फोड डाले या तुम्हारी पत्नी पर बलात्कार करे तो इन कुकृत्यो की जवाबदारी उस आदमी पर डालोगे या उस आदमी पर नहीं डालते हुए नियति पर डालोगे और नियति पर डाल शांत रहोगे ?''

सदालपुत्र ने कहा ''भगवान ! उस समय मैं शांत नहीं रह सकता, उस आदमी की बराबर पिटाई कर डालुंगा ।

भगवान महावीर ने कहा '' सदालपुत्र ! इसका अर्थ तो यह हुआ की तुम उस आदमी को उसके कार्यो का जवाबदार मानते हो, पर जब प्रत्येक कार्य नियतिबद्ध है तो फिर उस आदमी को उसके कार्यो का जवाबदार किसलिए मानना चाहिये ? क्या नियतिवाद का अर्थ यह है कि मानव अपने पापो को नियतिवाद के नाम तले ढंक दे और दूसरो के पापो का बदला लेने के लिये नियतिवाद को परे सरका दे ? सदालपुत्र नियतिवाद के आधार पर प्रगति हो सकेगी ? ..... जगत में व्यवस्था बन सकेगी ?''

श्रीमहावीरस्वामी की बात सुनते ही सदालपुत्र की आंख खुल गयी सत्य के दर्शन हुए, सम्यगदर्शन की प्राप्ति हुई, उसने कहा 'देवाधिदेव आपने मुझे उन्मार्ग से सन्मार्ग की ओर मोडा । प्रभु ! अब मैं समझ गया हुं की नियतिवाद यह जडता का मार्ग है । दंभ है.... आत्मवंचना व परवंचना है....''

भगवंत ने कहा - सदालपुत्र ! आत्मवंचना (आत्मा को ठगना) से अपनी आंख में धूल डाली जा सकती है..... परवंचना (दूसरो को ठगने से) से दूसरो की आंखो में धूल डाली जा सकती है, पर जगत की कार्यकारण व्यवस्था की दृष्टि में धूल नहीं डाली जा सकती ।

अपने मन की शंका का समाधान करके हम कहीं ऐसे झूठे वाद में फंस गये हो तो तत्काल अपने आप को बाहर निकालने की आवश्यकता है ।

नियतिवाद को भी स्थान है ही, विरोध सिर्फ इस एक को ही ''सर्वेसर्व'' मान दूसरे कारणो को उडा देने के सामने है । प्रत्येक कार्य होनें काल, स्वभाव, उद्यम (पुरुषार्थ), पूर्वकर्म एवं नियति ये सारे अपनी-अपनी योग्यतानुसार गौण-मुख्य भूमिका निभाते है, इसलीये ये पांच समवायी कारणो को उनके स्थान अनुसार स्वीकारने में ही न्यायसिद्धता है ।

''सन्मतितर्क'' में सिद्धसेन दिवाकर कहते है -

कालो सहाव नियई पव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेव य, समासओ होन्ति सम्मतं ।।३-५३।।

काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म, पुरुषार्थ इसमें से किसी भी एक का एकांत (सिर्फ एक) पक्षपात करने में मिथ्यात्व है और इन पांचो को योग्य रुप से स्वीकारने में सम्यक्त्व है ।

कार्यसिद्धि

विश्व के सारे ही मनुष्य अपने अपने लक्ष्य एवं लाभ अनुसार विविध कार्य करने में लगे रहते है । कभी कितने ही जीवो को इच्छित कार्य में सिद्धि मिलती है, कभी कितने ही जीवो को इच्छित कार्य में अत्यन्त पुरुषार्थ करने के बावजूद सिद्धि प्राप्त नहीं होती है, क्या होगा रहस्य उसके पीछे का ?

जैन शास्त्रो के अनुसार प्रत्येक कार्य की सिद्धि में काल वगैरह पांच कारण होते है, हम इन पांच कारणो को समझने के लिये प्रयत्नशील बनते है ।

१) काल :- जो कार्य जिस समय में होने वाला होता है, उसी समय में होता है । ग्रीष्मऋतु में आम आते है, शीतऋतु में मैथी आती है, वैसे ही सारे कार्यो का समय होता है उस समय वे होते है । अनुकूल समय पर योग्य स्वभाव में योग्य पुरुषार्थ करने में आये तो सफलता सरल बनती है । काल की परिपक्वता होती है तभी कार्य की सिद्धि होती है ।

२) स्वभाव : कार्यसिद्धि के लिये योग्य काल प्राप्त हुआ हो पर स्वभाव का संयोग नहीं मिले तो कार्य सिद्ध नहीं होता है । बीज को खेत में उगाने में आये तो उसमें से योग्य काल होने पर रोप या वृक्ष की प्राप्ति होनी चाहिये पर यदि बीज जला हुआ है, वृक्षनिर्माण के स्वभाव का नाश हो गया हो तो उसमें से वृक्ष नहीं होता है ।

३) नियति :- काल और स्वभाव अनुकूल हो पर यदि काल की परिपक्वता नहिं हुई हो तो कार्य होता नहीं है । स्वभाव से जीव भव्य हो, काल अनुकूल हो फिर भी यदि नियति अनुकूल नहीं हो तो कार्य होता नहीं है ।

४) पुरुषार्थ : काल, स्वभाव और नियति अनुकूल होने के बावजूद यदि जीव पुरुषार्थ न करे तो सिद्धि नही ही पा सकता । प्रत्येक शुभ कार्य में यथायोग्य पुरुषार्थ तो होना ही चाहिये । काल, स्वभाव, नियति सब अनुकूल होने पर भी जीव पुरुषार्थ न करे तो सिद्धि नहीं मिलती ।

५) कर्म :- बीज को उगाने के लिये पुरुषार्थ करे पर यदि भाग्य में नहीं हो तो पुरुषार्थ में भी सफलता नहीं मिलती है, इन्हीं पांचो को हमारी आत्मा के उपर किस तरह घटित कर सकते है ? यह बात विचारणीय है,

मोक्ष प्राप्ति का कार्य किस तरह से साधक जीव सिद्ध कर सकता है ?

मोक्ष प्राप्ति यह साधक का मुख्य लक्ष्य है, यह भी एक कार्य है । इस कार्य के लिये भी पांच कारणो की आवश्यकता है ।

मोक्ष प्राप्ति के लिये तीसरा और चौथा आरा यह अनुकूल काल है, इसलीये मोक्ष प्राप्ति के लिये (भरतक्षेत्र में से) तीसरे या चौथे आरे का काल चाहिये ।

काल भले ही तीसरे-चौथे आरे का हो पर जिस जीव का स्वभाव मोक्ष जाने का हो वो ही जीव मोक्ष में जा सकता है, इसलीये चाहे जिस काल में अभव्य जीवो को मोक्ष है ही नहीं इसलीये जीव भव्यत्व के स्वभाववाला ही चाहिये ।

जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और करेगा पर जब उसकी भवस्थिति का परिपाक होगा तभी जीव चरमावर्तकाल में प्रवेश करेगा, और तभी मोक्ष में जायेगा यानि काल अनुकूल हो.... तीसरा या चौथा आरा हो.... जीव भव्यत्व के स्वभाववाला हो पर यदि उस जीव ने चरमावर्तकाल को पाया नहीं है तो उसकी मोक्ष प्राप्ति संभवित नहीं ।

तीसरे या चौथे आरे में चमरावर्त को पाया हुआ भव्य जीव हो इतने मात्र से मोक्ष प्राप्ति होती नहीं है पर साथ मे पूर्व क्रिया (कर्म) होना ही चाहिये यानि जीव ने सम्यगदर्शन की प्राप्ति..... अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो का क्षय, श्रेणी मांडने वगैरह की पूर्वक्रिया की हुई ही होनी चाहिये । ऐसे पूर्वकर्म से ही जीव आगे बढ सकता है, ऐसी पूर्वक्रिया के बिना सिद्धि संभवित नहीं ।

इन सारे कार्यो में सम्यगदर्शन की प्राप्ति कषायक्षय, श्रेणी आरोहण आदि क्रियाये आत्मवीर्य प्रगटाने के पुरुषार्थ बिना संभव नहीं इसलिये मोक्ष प्राप्ति के लिये उद्यम अथवा पुरुषार्थ भी आवश्यक है..... इस तरह जीव की शिव यात्रा पांच समवाय कारणो से ही सफल बनती है, इसलीये किसी भी एक कारण को स्वीकार कर अन्य का लोप करना यह मिथ्यात्व है ।

आज के जीव सामान्य रुप से नियतिवाद की ओर ज्यादा झुकते जा रहे है, उनके जीवन में पुरुषार्थ में गौणता आ रही है, पर यह पुरुषार्थ की गौणता प्रायः शुभकार्यो की ओर है, अशुभकार्यो की ओर नहीं । ऐसे कारणो से ही जीव शुभ कार्यो से और शुभ मार्ग से दूर चला जाता है और अशुभ मार्ग में भटक जाता है ।

आज कितने ही जीव ऐसा मानते है की "अपनी हरेक प्रकार की भवितव्यता ज्ञानियो के ज्ञान में निश्चित है । ज्ञानियो ने जिस काल में हमारा मोक्ष देखा होगा उसी काल में ही अपना मोक्ष होने वाला है इसमें कभी कोई फर्क होने वाला नहीं है, तो फिर तप-त्याग वगैरह करने की क्या जरुरत है ? हमें तो खा-पीकर मजा करनी है । कर्मोदय से हमारी प्रवृति चाहे जैसी हो पर मन में भावना ऊंची रखने की ।"

ऐसे जीव धर्म को पाये हुए नहीं है, धर्म मार्ग से नजदीक नहीं पर अभी धर्म मार्ग से बहुत दूर है । धर्ममार्ग को पाया हुआ जीव कभी भी ऐसा विचार नहीं ही कर सकता । जीव जब वीतराग के विज्ञान को जानता है, समझता है, तब उसकी आज्ञापालन के लिये हृदय में उत्कृष्ट भाव होते है, उसके जीवन में कहीं पर भी, कभी भी वीतराग के दर्शाये मार्ग के लिये उपेक्षा भाव नहीं होता । पापोदय से कभी अयोग्य बाह्यवर्तन करना पडे तब अंतर में अत्यन्त दुःख और वेदना होती है, ऐसा जीव मन में रोता रहता है । ऐसे जीवो को केवल भावशुद्धि से संतोष नहीं होता, सिर्फ शुद्ध भावना से ही संतोष मान बैठे, उनकी भावशुद्धि सच्ची हो ही नहीं सकती ।

हमें सर्वज्ञ भगवंत के बताये हुए कार्यसिद्धि के पांच समवाय कारणो को अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि से समझकर, विचारकर के मिथ्यात्वी विचारणा का त्याग करके सच्चे सम्यगदर्शन को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्ति की कोशिश में लग जाते है ।